दलित संचेतना के उभरते प्रश्न

धर्मपाल गुप्त 'शलभ'

दलित संचेतना का अर्थ वह समग्र वैचारिक चेतना है जो हिंदू समाज की मनुवादी व्यवस्था और उससे संलग्न अवधारणाओं के प्रति घृणा प्रकट करके एक नए जाति एवं वर्ग विहीन समाज की कल्पना करती है। दलित संचेतना द्वारा मनुवाद को पूरी तरह नकारने का अर्थ हिंदू समाज के संपूर्ण कर्मकांड, देवी-देवतावाद, मूर्तिपूजन और पौराणिक आख्यानों को अस्वीकार करना भी है। यह संचेतना दलित साहित्य में तीव्रता से उभरी है। अब यह कहना सरल नहीं रहा कि दलित लेखन साहित्य के मानदंडों पर खरा नहीं उतरता जिस कारण उसे साहित्य की मान्यता नहीं दी जा सकती। साहित्यिक मठाधीश फिर चाहे वह शुद्ध साहित्यवादी हों अथवा प्रगतिवादी हों, उन्हें आज के दलित लेखन पर अपना मौन तोड़ना ही होगा इसलिए कि दलित लेखन का काफी विस्तार हुआ है और उसमें काफी कुछ श्रेष्ठ एवं विचार प्रधान लिखा जा रहा है। दलित लेखन मराठी भाषा में भी हो रहा है किंतु अंतर यह है कि मराठी दलित लेखन विचार प्रधान होने के साथ साहित्य की विधाओं से भी जुड़ा है जबकि हिंदी दलित लेखन में यह प्रयास जारी है।

दलित लेखन की धारा स्वतंत्र है अथवा यह प्रगतिशील लेखन की ही उपधारा है, यह प्रश्न आज विवाद का विषय बन चुका है। दलित लेखक आज प्रगतिवाद को पूर्णता नकारकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व का गर्वगुमान पाले हुए हैं। इनकी दृष्टि में प्रगतिवादी और शुद्ध साहित्यवादी मानसिकता में मनुवाद के आधार पर कोई

अंतर नहीं है। इसीलिए दलित लेखक डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. विद्यानिवास मिश्र को एक ही सिक्के के दो रुख कहते हैं। वैसे यह आश्चर्यजनक तो है कि मूल्यांकन के आधार पर साहित्य जगत में दलित लेखन पर चर्चा क्यों नहीं की जाती? हिंदी के आलोचक और समीक्षक दलित साहित्य पर मौन साधे हैं। यह मौन आखिर क्या प्रकट करता है? क्या यह कि दलित लेखन उपेक्षा के योग्य है और यह कि गटर में ईंट फेंकने से छींट अपने ऊपर भी आएगी। लगता है कि साहित्य समीक्षक और आलोचक अपनी सवर्ण मानसिकता के कारण इस ओर नजर डालने से भय खाते हैं। दबे-तुले शब्दों में इधर उधर से यह अवश्य कहा जा रहा है कि दलित लेखन साहित्य न होकर स्वानुभूति का एक पक्षीय लेखन है। कुछ कहते सुने जाते हैं कि दलित लेखन साहित्य की प्रगतिशील धारा को गलत मोड़ दे रहा है।

चलिए मान लेते हैं कि उपर्युक्त दोनों कथित दोष दलित लेखन में है किंतु प्रश्न तो यह है कि हिंदी आलोचक इस प्रश्न पर खुलकर चर्चा करने से अपना दामन क्यों बचा रहे है? इसमें दो मत नहीं कि दलित लेखन स्वानुभूतिमूलक है। दलितों ने जो भोगा और जिया है, वह आक्रोश रूप में उनके लेखन में अभिव्यक्त हो रहा है। यही यथार्थवादी लेखन है। जाहिर है कि जो शुद्ध साहित्य के पक्षधर है उन्हें दलित आक्रोश अप्रिय लगेगा किंतु जो प्रगतिवादी हैं उन्हें तो यह टटोलना ही चाहिए कि दलित लेखन कहीं प्रगतिशील लेखन की उपधारा तो नहीं है? माना कि दलित लेखक प्रगतिवादियों का शुमार भी मनुवादियों में करते हैं किंतु अपनी युक्ति के साथ वह यह प्रश्न भी उठाते हैं कि प्रगतिशील साहित्यकारों ने अपने ऐतिहासिक दौर में दलितों को शोषित वर्ग के रूप में केंद्रित क्यों नहीं किया और क्यों उन्होंने भारतीय समाज में दलितों को ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रांति का हरावल दस्ता नहीं माना? जाहिर है कि प्रगतिवादियों ने मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण भारत की विशिष्ट सामाजिक स्थिति के बावजूद दलितों की पहचान सर्वहारा के रूप में नहीं की।

दलित लेखन पूर्णतः अंबेडकरवाद से प्रभावित है। एक प्रकार से अंबेडकरवाद दलित लेखन की प्राणशक्ति है। शायद इसीलिए दलित लेखक मार्क्सवाद से दूरी कायम रखते हैं। डॉ. अंबेडकर ने हिंदूधर्म का त्याग करके बुद्धधर्म अंगीकार किया था। इसी कारण दलित लेखन का झुकाव बुद्धधर्म की ओर है। अलबत्ता इन लेखकों में कुछ ऐसे भी विचारक है जो वैज्ञानिक विचारों की बात करते हैं। कुल मिलाकर, दलित लेखन पूर्णतः मनुवाद, कर्मकांड, देवी-देवतावाद और पौराणिक आख्यानों का प्रबल विरोधी है किंतु वैज्ञानिक विचारों का स्वीकार्य उसमें फिलहाल नहीं है। दलित लेखक मनुवाद से मुक्त होने के लिए बुद्धधर्म की शरण लेते हैं, किंतु वैज्ञानिक विचारों के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की भाषा नहीं समझ रहे हैं। यह एकदम संभव भी नहीं है। फिर भी दलित लेखकों के सामने भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या आधुनिक युग की वैचारिक क्रांति में पच्चीस सौ वर्ष पुराना बुद्धधर्म टिक सकेगा?

प्रगतिवादियों में शायद राजेन्द्र यादव ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने दलित लेखन को चर्चा का मंच दिया है। डॉ. नामवर सिंह तो शायद अभी तक ओमप्रकाश वाल्मीकि की श्रेष्ठ औपन्यासिक कृति 'जूठन' और मलखान सिंह की काव्य कृति 'सुनो ब्राह्मण' को प्रगतिशील लेखन के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं क्योंकि दलित लेखन में वही संघर्षशीलता है जो प्रगतिशील लेखन में बनी रहती है। शायद यही कारण है कि अपनी उपेक्षा महसूस करके दलित लेखकों में 'ईगो' विकसित हो रहा है और वह प्रगतिवादियों को भी 'सवर्ण' कहने लगे हैं। डॉ. जय प्रकाश कर्दम के संपादन में प्रकाशित 'दलित साहित्य 2001' पुस्तक दलित लेखन की झांकी प्रस्तुत करती है। इसमें फासीवाद विरोधी अनेक विचार प्रधान ऐसे लेख हैं जो गैर दलित पत्र-पत्रिकाओं में नहीं देखे जाते। इस प्रकाशन से दलित लेखन की दशा और दिशा का परिचय मिल जाता है। इससे यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि दलित लेखन आंदोलनकारी क्यों नहीं बन पा रहा है? अभिप्राय यह कि साहित्य में उभरने वाली संचेतना दलित समाज को प्रभावित नहीं कर पा रही है। वह एक जनांदोलन का रूप नहीं ले पा रही है। दलित लेखकों की मशक्कत केवल साहित्य सृजन तक है।

जहां तक दलित संगठनों का प्रश्न है तो उनके सामने केवल राजनीतिक सौदेबाजी का लक्ष्य रहता है। मायावती हों अथवा राम विलास पासवान हों, सामाजिक क्रांति लाने का ध्येय किसी के पास नहीं है। एक भी ऐसा दलित नेता नहीं है जो दलित लेखन से

उभरती दलित संचेतना से परिचित है। यदि यह माना जाए कि सामाजिक क्रांति के मार्ग में एकमात्र अवरोध सामंतवाद है और भारतीय लोकतंत्र के लिए सामंती फासीवाद का ही खतरा है तो यह आज का यथार्थ है कि इसका मुकाबला दलित संचेतना ही कर सकती है। यही कारण है कि सामंती फासीवादी तत्व दलित संचेतना के प्रसार और प्रभाव को रोकने में लगे हैं। पुरातन संस्कृति, जातिवाद और पुरुषपंथ सामंतवादी सोच की ही उपज है। वर्णव्यवस्था की एक ईंट हिलाने भर से मनुवाद का संपूर्ण ढांचा भरभराने लगता है। यही कारण है कि सामंती फासीवाद को कमजोर करने के लिए दलित लेखन पूरी तरह शक्ति से मनुवाद के अवशेषों पर प्रहार कर रहा है। आश्चर्य है कि दलित लेखन में यह सब हो रहा है किंतु दलित संगठन और दलित नेता साहित्य के संचेतना से अलग रहकर केवल वोटों की राजनीति तक सीमित हैं। दलित लेखक इस प्रश्न पर मौन नजर आते हैं।

दलित लेखन को एक प्रकार से आत्मकेंद्रित भी कहा जा सकता है क्योंकि वह दलितों द्वारा दलितों के लिए ही रचा जा रहा है। एक ओर इसमें जहां पिछड़ों को दूर रखा गया है, वहां दूसरी ओर सवर्णों को भी सवर्ण मानसिकता से मुक्त होने का वैचारिक संदेश नहीं है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत दलित और पिछड़े मूलतः शूद्र ही हैं। सामाजिक बुनावट के कारण भ्रमवश पिछड़े अपने को सवर्णों के निकट मानते रहे हैं। यही भ्रम पिछड़ों और दलितों को आपस में मिलने से रोकता है। जाहिर है कि वर्णव्यवस्था के विरुद्ध सामाजिक क्रांति लाने के लिए दलित और पिछड़ों का एका पहली शर्त है। दलित लेखक इस एके के प्रति सजग नजर नहीं आते। शायद स्वानुभूति के लेखन ने ही दलित लेखन की छवि आत्मकेंद्रित जैसी कर दी है। समय की मांग है कि दलित लेखकों और प्रगतिशील रचनाकारों में आपसी संबंधों पर बहस का द्वार खोला जाए। राजेन्द्र यादव ने यही किया है। सोचना होगा कि क्या दलित साहित्य प्रगतिशील साहित्य का ही दूसरा संस्करण तो नहीं है?

तो क्या प्रगतिवाद के मठाधीश जमीन पर उतरकर तथा दलित लेखक फिजूल के अहंकार से बाहर आकर समय की आवश्यकता के अनुरूप आपसी संबंधों पर बहस और सहयोग के लिए आगे बढ़ सकेंगे? बहरहाल, पहल दोनों ओर से ही होनी चाहिए किंतु दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए पहला कदम डॉ. नामवर सिंह को ही बढ़ाना होगा।
